



THE TIMES OF INDIA

Date: 17-12-18

## Fresh Prescription

### *13 economists push a grounded debate on India's agrarian and job crises*

#### TOI Editorials



Two issues were common to states which went to polls recently: agrarian and job crises. Both recur at intermittent intervals, suggesting that political parties, regardless of their stripe, haven't found durable solutions. In this context, a non-partisan effort by a group of economists from academia and private sector to put together a concise strategy paper is welcome. Titled 'An Economic Strategy for India', it identifies the main challenges and suggests some solutions. It seeks to trigger a grounded debate on economic issues. In the run-up to the next general election this is urgently needed.

The 13 economists, including Raghuram Rajan and IMF's chief economist Gita Gopinath, do not represent a single ideological persuasion. Therefore, when they point out that farm loan waivers, the staple of an election manifesto today, do not work, it's time to reconsider it as the default solution. States have tried experiments in an effort to reform, most notably with Telangana providing an upfront investment support. These are sensible practices which can be replicated across other states. Other suggestions, which have often come from within governments, to reduce the monopoly power of middlemen and clear obstacles to competition in the supply chain also make sense.

India is at a crossroads when it comes to its youth. In the absence of opportunities, a potential demographic dividend can turn into a nightmare. Two aspects were picked by the paper for special mention. Labour contracts need more flexibility to accommodate different kinds of needs on both sides. This may play an important role in attracting some of the spillover investment triggered by companies trying to hedge their exposure to China on the heels of a trade war. Separately, education is an area which needs intense government engagement but without baggage.

Environmental pollution and healthcare gaps blight the quality of life for the average Indian but they have been relegated to the periphery by political parties. It's not too late to improve performance in these areas to improve the quality of living. In the run-up to the next Lok Sabha election, as parties launch into campaign mode and also prepare manifestos, hopefully this effort will allow Indian citizens to ask more meaningful questions on their economic strategy. This is essential because it's apparent differences in economic strategies of political parties are superficial. Repeating bad ideas run the risk of transforming a jobs crisis into a social crisis.

Date: 17-12-18

## बिज़नेस स्टैंडर्ड

### सहकारी संघवाद की खातिर मिलकर काम करें केंद्र और राज्य सरकार

ए के भट्टाचार्य

नरेंद्र मोदी ने जब प्रधानमंत्री के रूप में अपनी पारी शुरू की थी, तब उन्होंने सरकारी संघवाद को बढ़ावा देने का वादा किया था। हालांकि इन शब्दों से उनका क्या मतलब था, इसे लेकर खुलकर कुछ नहीं कहा गया। लेकिन इसका मुख्य लक्ष्य यह था कि केंद्र और राज्य आर्थिक वृद्धि और विकास के लिए मिलकर काम करेंगे। मोदी ने प्रधानमंत्री बनने से पहले एक और बयान दिया था, जिसने भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। उन्होंने वर्ष 2014 के आम चुनावों में भारतीय जनता पार्टी की प्रचंड जीत से पहले नई दिल्ली में दिए एक भाषण में कहा था कि भारतीय टीम में केवल प्रधानमंत्री और उनकी मंत्रिपरिषद ही शामिल नहीं हैं, बल्कि इसमें प्रधानमंत्री और 30 से अधिक मुख्यमंत्री शामिल हैं।

साढ़े चार साल बाद मोदी के सहकारी संघवाद ने थोड़ा अलग रास्ता पकड़ लिया है। हां, भाजपा शासित राज्यों के मुख्यमंत्री निश्चित रूप से उस टीम इंडिया का हिस्सा हैं, जिसकी वह अगुआई करते हैं। लेकिन यह मोदी के सहकारी संघवाद का सबूत नहीं है। भाजपा शासित राज्यों के पास केंद्र की भाजपा सरकारों के निर्देश के पालन के अलावा और कोई चारा नहीं है। सहकारी संघवाद का असली परीक्षण तो यह है कि वह भाजपा से इतर दलों द्वारा शासित राज्यों के मुख्यमंत्रियों को कितने बेहतर तरीके से टीम में शामिल कर पाते हैं। जब हम कुछ विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्यों को देखते हैं तो पाते हैं कि वह सरकारी संघवाद बहुत कम नजर आता है, जिसकी मोदी ने बात की थी।

कुछ महीनों पहले मोदी ओडिशा गए थे। वह जिन कार्यक्रमों में हिस्सा लेने गए थे, उनमें से एक झारसुगुडा हवाई अड्डे का उद्घाटन था। यह एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम था क्योंकि यह ओडिशा में दूसरा हवाई अड्डा है। इस उद्घाटन समारोह में ओडिशा के मुख्यमंत्री नवीन पटनायक भी मौजूद थे। लेकिन यह सभी को स्पष्ट दिख रहा था कि मोदी और पटनायक टीम इंडिया से जुड़े सदस्यों की तरह कहीं से नजर नहीं आ रहे थे। असल में उद्घाटन समारोह में मोदी राज्य सरकार और उसके प्रदर्शन के आलोचक थे। झारसुगुडा हवाई अड्डे पर जो कुछ हुआ, वह केंद्र और विपक्षी दलों द्वारा शासित ज्यादातर राज्यों के बीच कड़वे संबंधों का प्रतीक था। यह सहकारी संघवाद के बयान से बिल्कुल विपरीत है। केरल का ही मामला लें। केरल में बाढ़ से तबाही के समय राज्य को संयुक्त अरब अमीरात (यूएई) की मदद को लेकर केंद्र और केरल के बीच परस्पर विरोधी बयान आए थे। यूएई ने कथित रूप से राज्य में पुनर्वास कार्यों के लिए केरल सरकार को 7 अरब रुपये की पेशकश की थी। हालांकि केंद्र सरकार ने देश में पुनर्वास के लिए किसी विदेशी सरकार की मदद लेने से इनकार कर दिया था।

यूएई की पेशकश को स्वीकार न करने का मोदी सरकार का तर्क समझ से बाहर है। केरल को यूएई की पेशकश इस बारे में एक विवाद बन गई कि केंद्र किस तरह एक राज्य सरकार की चिंताओं को दूर करता है। इससे निश्चित रूप से बचा जा सकता था। यह विवाद इसलिए भी पैदा हुआ क्योंकि केरल में विपक्षी दल की सरकार है और मोदी सरकार का रुख केंद्र और विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्यों के बीच कटु संबंधों में सटीक बैठता है। इसके बाद दो और विपक्षी दलों द्वारा

शासित राज्यों का फैसला आया कि वे अपने क्षेत्राधिकार में केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो (सीबीआई) को जांच नहीं करने देंगे। पहला राज्य आंध्र प्रदेश था और दूसरा पश्चिम बंगाल। दोनों राज्यों ने आरोप लगाया कि केंद्र सीबीआई का इस्तेमाल राजनीति प्रेरित जांचों के लिए कर रहा है। यह दो राज्यों के अपने यहां सीबीआई को जांच नहीं करने देने का दुर्लभ मामला है। यह देखना होगा कि क्या अन्य विपक्षी राज्य भी इसकी देखादेखी करते हैं। दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल ने भी पीछे न रहते हुए सरकारी कर्मचारियों के लिए 2004 में लागू राष्ट्रीय पेंशन प्रणाली की जगह पहले की पेंशन योजना को बहाल करने की योजना बनाई है।

पहले ही पेंशन योजना को फिर से शुरू करने का मतलब है कि इससे वित्तीय बोझ बढ़ेगा, लेकिन इससे बड़ी तादाद में वोट मिल सकते हैं। इससे केंद्र को इस मामले पर फिर से विचार करने के लिए मजबूर होना पड़ सकता है। दिल्ली में शहरी विकास परियोजनाओं का उद्घाटन भी केंद्र और केजरीवाल के बीच विवाद की जड़ बन गया है। 15वें वित्त आयोग के अपने सिफारिशें देने में भी अब एक साल से कम समय रह गया है। आयोग केंद्र बंटवारे वाले संसाधनों को राज्यों के साथ साझा करने के तरीके सुझाएगा। 15वें वित्त आयोग के नए नियम एवं शर्तों को लेकर पहले ही कुछ राज्य सवाल उठा चुके हैं। उनका कहना है कि संसाधनों के आवंटन की कुछ शर्तें या तो ठीक से परिभाषित नहीं हैं या केंद्र के कार्यक्रमों को पूरा करने से जुड़ी हुई हैं। उदाहरण के लिए लोकलुभावन योजना को कौन परिभाषित करेगा? 15वें वित्त आयोग के संसाधनों में कटौती की सिफारिश के रूप में उन राज्यों पर जुर्माना लगाने के आधार हैं, जो लोकलुभावन योजनाओं को अपनाएंगे। राज्यों की तरफ से अलग-अलग तरीकों से चुनौतियां आ रही हैं। केंद्र सरकार इनकी अनदेखी नहीं कर सकता। उसे राज्यों के साथ मिलकर काम करना चाहिए ताकि सहकारी संघवाद का शाब्दिक और भावनात्मक रूप से अनुसरण किया जा सके।

*Date: 17-12-18*

## रोजगार मांग रहे युवाओं को गाय दे दो...

**शेखर गुप्ता**

ब्रांड गुरु एलिक पदमसी एक दिलचस्प वाक्या सुनाते थे: 'मेरे ग्राहक अपने ब्रांड को नए सिरे से स्थापित करने को कहते हैं। मैं उनसे कहता हूं कि मैं कभी भी अपने ब्रांड को पुनर्स्थापित नहीं करता। उसकी जगह मैं प्रतिद्वंद्वी ब्रांड को ही पुनर्स्थापित करता हूं।' दुर्भाग्य से पदमसी का हाल ही में निधन हो गया। अगर वह रहते तो उनसे नरेंद्र मोदी और अमित शाह के बारे में चर्चा करना काफी दिलचस्प होता। दोनों नेता उस ब्रांड प्रस्तुति के ठीक उलट काम कर रहे हैं जिसने वर्ष 2014 में मतदाताओं का दिल जीता था। पिछले आम चुनाव के पहले मोदी ने नकारात्मकता और निराशावाद जताने वाला कोई शब्द शायद ही बोला था। उनका संदेश मजबूत, सतत और भरोसेमंद था: विकास, वृद्धि, नौकरी, सख्त देश के तौर पर पहचान और सभी मोर्चों पर अच्छे दिन का वादा। उन्होंने एक स्वच्छ, निर्णायक और अधिकतम शासन देने वाली न्यूनतम सरकार का वादा किया। वह भविष्य और क्रांतिकारी बदलाव की बातें करते थे जिसके केंद्र में युवा थे।

अगर अतीत का जिक्र करते भी थे तो वह संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन (संप्रग) सरकार के दूसरे कार्यकाल की नाकामियों, नीतिगत पंगुता, शासन के अभाव, प्रधानमंत्री के निरादर, पर्यावरणीय मंजूरीयों में गड़बड़ियों और तमाम घोटालों से भरा

होता था। वह मतदाताओं को बांटने और धुवीकरण की बात नहीं करते थे। उनके अभियान का आधार 'सबका साथ, सबका विकास' था। पूरे अभियान का संदेश यह था कि 'मुझे समस्याओं के बारे में मालूम है और मैं इनका समाधान लेकर आ रहा हूँ। मुझे जनादेश, समय और अपना भरोसा दीजिए।' यह एक बेहतरीन उत्पाद था जिसने विरोधी को रौंदकर रख दिया। लेकिन अगले आम चुनाव में छह महीने बाकी रहते समय मोदी का संदेश इसके ठीक उलट है। वह इंदिरा गांधी के बाद भारत के सबसे मजबूत प्रधानमंत्री हैं लेकिन उनकी शिकायत है कि कांग्रेस उन्हें काम नहीं करने देती। एक जनसभा में उन्होंने यहां तक कहा कि कांग्रेस को उनके 'भारत माता की जय' कहने पर भी एतराज है। जिस 10 जनपथ ने मनमोहन सिंह को जकड़ा था, उसी ने लोकसभा में महज 47 सांसदों के बूते मोदी को भी बांध रखा है। उन्होंने न्यूनतम सरकार का वादा किया था लेकिन अब अधिक सरकारी योजनाओं की ही बात करते हैं। वह भ्रष्टाचार के आरोपियों को सजा दिलवाने के बजाय गांधी और चिंदबरम परिवारों के कई नए एवं पुराने पापों का हवाला ही दे रहे हैं। ऐसा 54 महीनों से सत्ता में रहने और 'एजेंसियों' के भरपूर दुरुपयोग के बाद है।

गुजरात की तरह उद्यमी-केंद्रित वृद्धि और न्यूनतम सरकार देने के बजाय मोदी अधिक बयान ही दे रहे हैं। वह अब भविष्य की बात कभी-कभार करते हैं और सुदूर अतीत के प्रति आसक्त बने हुए हैं। जवाहरलाल नेहरू, उनके पिता और उनकी बेटी और पटेल एवं शास्त्री को लेकर वह आसक्त रहते हैं। नौकरियों, विकास और समृद्धि का वादा धूसरित हो चुका है। एकता और सबका साथ के बजाय धार्मिक आधार पर धुवीकरण इस दौर का मकसद बना हुआ है। योगी आदित्यनाथ और अमित शाह इसके महारथी हैं। इस तरह मोदी ने अपने ही ब्रांड या उत्पाद को नाटकीय रूप से पुनर्स्थापित कर दिया है। अपने कामकाज के बजाय वह विरोधियों के सुदूर अतीत के आधार पर वोट मांग रहे हैं और इस राह पर लगातार बढ़ने की बात भी कर रहे हैं। यह कुछ वैसा ही है: अरे, वे नौकरियां मांग रहे हैं? उन्हें गाय दे दो...।

युवा भारत के बेरोजगार युवा गांव की चौपाल पर कैरम-ताश खेलते हुए या बीड़ी-सिगरेट पीते हुए या बतकही करते हुए या लगभग मुफ्त डेटा के जरिये चीन-निर्मित स्मार्टफोन पर फालतू चीजें देखने में व्यस्त हैं। वे लगातार गुस्से और हताशा से भरते जा रहे हैं। क्या वे उस अभिलाषा और आत्म-सम्मान को तिलांजलि देने को तैयार हैं जिसने मोदी को सत्ता तक पहुंचाया लेकिन अब गौ-संरक्षण पर केंद्रित है। हालिया चुनाव नतीजों से तो ऐसा नहीं लगता है। उत्साही आलोचक और एक्टिविस्ट इन नतीजों को महज ग्रामीण एवं कृषि असंतोष का नतीजा बताकर गलती कर रहे हैं। आंकड़े बताते हैं कि इन राज्यों में भाजपा को कई शहरों में भी हार मिली है। मोदी के सबसे बड़े, सबसे मुखर और सबसे आशावान समर्थक शहरों और कस्बों में रहने वाला मध्यवर्ग और बेरोजगार युवा थे। लेकिन वे नेहरू को 2018 में जिंदा कर उनका फिर से अंतिम संस्कार करने से सहमत नहीं हैं।

वर्ष 2014 के नतीजों के बाद मैंने लिखा था कि यह भारत की नई सदी, गैर-वैचारिक और व्यावहारिक सोच रखने वाली पीढ़ी का उदय है। युवाओं ने वंश-आधारित विशेषाधिकार को नकार दिया था जिसके चलते कांग्रेस को नगण्य भूमिका में आना पड़ा था। समस्या यह है कि मोदी और शाह अब भी उन्हें उसी वंश-परंपरा से लड़ने को कह रहे हैं जो काम नहीं कर रहा है। भूमित मतदाता कह रहा है कि 'आप तो ऐसे ना थे'। मोदी अपने 'जीनियस' अभियान में सोनिया गांधी की पहल पर शुरू कल्याणकारी योजनाओं पर एक दिलचस्प कहानी सुनाते थे। वह कहानी जंगल से गुजरते समय एक किसान का सामना एक शेर से होने की थी। किसान ने शेर को गोली मारने की चेतावनी दी तो शेर ने पूछा, 'लेकिन तुम्हारी बंदूक कहां है?' किसान ने एक कागज दिखाते हुए कहा, 'यहां है। अभी मेरे पास बंदूक नहीं है लेकिन सोनिया जी

ने मुझे बंदूक का लाइसेंस दिया हुआ है।' लोग कहानी में छिपे उस संदेश को समझ रहे थे कि केवल सरकारी योजनाएं गरीबी और बेरोजगारी को नहीं दूर कर सकती हैं।

मोदी की आयुष्मान भारत जैसी योजना गरीब के लिए 'बंदूक लाइसेंस' जैसी ही है। मोदी ने 2014 में इस वंश-साम्राज्य को हराया था लेकिन उसकी राजनीतिक अर्थव्यवस्था को अपना लिया। मोदी को वैचारिक रुझान न रखने मतदाताओं ने भी समर्थन दिया था और उत्तर प्रदेश चुनाव तक यह जारी रहा। लेकिन अब वे भ्रमित हैं और यह दिख रहा है। अरुण शौरी ने भाजपा सरकार को 'कांग्रेस प्लस गाय' करार दिया था। लेकिन यह तो इंदिरा के दौर वाली पुरानी कांग्रेस के साथ गाय का समावेश है। यह सरकार सार्वजनिक क्षेत्र पर भरोसा करती है, करदाताओं के पैसे राष्ट्रीयकृत बैंकों में डालती है और प्रतिद्वंद्वियों को राष्ट्रद्रोही के तौर पर बदनाम करती है। अगर मोदी की भाजपा 'पुरानी कांग्रेस प्लस गाय' है तो फिर अंतर कहां है? मान लिया कि मोदी, शाह और मोहन भागवत वंश-परंपरा की पैदाइश नहीं हैं लेकिन उनकी नीतियों में इतना अलग और आकर्षक पहलू भला क्या है? क्या वह अल्पसंख्यकों का भय है? इससे तो बात नहीं बनती है।

भाजपा का अहम वादा भ्रष्टाचार पर लगाम का था। यह सच है कि हमने इस सरकार में बड़े घोटाले नहीं देखे हैं और व्यक्तिगत निष्ठा वाली मोदी की छवि बेदाग है। लेकिन आम नागरिक एवं राज्य के मध्य तनाव के असली केंद्र यानी निचले स्तर पर भ्रष्टाचार बढ़ गया है। नई शक्तियों से लैस तमाम कर अधिकारी कहर बरपाए हुए हैं। घोटालों पर कार्रवाई के मोर्चे पर इस सरकार का प्रदर्शन कैसा है? 2जी मामले में सारे संदिग्ध छूट चुके हैं। कोयला घोटाले में आरोपित कांग्रेस नेता और कंपनी अधिकारी बेदाग हो चुके हैं जबकि तीन निर्दोष आईएएस अधिकारियों को जेल भेजा गया है। राष्ट्रमंडल खेल, आदर्श और एयर इंडिया खरीद जैसे तमाम मामलों को भुलाया जा चुका है और किसी भी दोषी को सजा नहीं मिली है। सरकार और उसकी एजेंसियों का समूचा समय नए मामलों में अपने विरोधियों को फंसाने में लगा है लेकिन इसमें भी वे नाकाम रही हैं। मोदी-शाह की जोड़ी ने 2014 में ऐसे आभामंडल के साथ दस्तक दी थी कि वे हरेक समस्या का हल निकाल सकते हैं। लेकिन अब ये दोनों अधिक कटु, क्रुद्ध, पीड़ित, प्रतिशोधक और नकारात्मक नजर आते हैं। वे अपने लिए वोट मांगने के बजाय अपने परास्त प्रतिद्वंद्वियों के खिलाफ मत देने की बात कर रहे हैं। जीत का टिकट रखने के बावजूद ऐसी आत्म-पुनर्स्थापना क्यों? एलिक पदमसी तो हंस पड़ते।

*Date:17-12-18*

## आगे बढ़ा एक कदम

### संपादकीय



पोलैंड के कैटोविस में संपन्न 24वें संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन सम्मेलन ने पेरिस जलवायु समझौते का वर्ष 2020 से क्रियान्वयन सुनिश्चित कर दिया है। ऐसा दुनिया के सबसे बड़े प्रदूषक अमेरिका के पेरिस समझौते से बाहर रहने और विकसित देशों के उत्सर्जन कटौती लक्ष्य को बढ़ाने और वैश्विक हरित कोष में योगदान बढ़ाने से अनिच्छा जताने के बावजूद हुआ है। हालांकि साझा लेकिन विभेदीकृत जिम्मेदारियों और वित्त एवं तकनीक तक पहुंच के



मामले में विकासशील देशों की कुछ प्रमुख चिंताओं पर या तो गौर नहीं किया गया है या फिर उन्हें अगले साल की मंत्रिस्तरीय बैठक के लिए छोड़ दिया गया है।

अमेरिकी प्रशासन ने वाशिंगटन से एक बयान जारी कर यह कहा है कि पेरिस समझौते के समर्थन में वह कोई भी दायित्व या वित्तीय वादा नहीं करता है। कई अन्य समृद्ध देशों ने भी बड़े तेल उत्पादक एवं निर्यातक देशों के साथ जीवाश्म ईंधन के इस्तेमाल में कटौती करने का कड़ा विरोध किया है। खुद पोलैंड भी अपने कुल बिजली उत्पादन का 80 फीसदी हिस्सा कोयले से पैदा करता है। यह साफ है कि कैटोविस में एक सकारात्मक सहमति होने के बाद भी ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में निकट भविष्य में कमी आने की संभावना कम है और वैश्विक तापमान में वृद्धि की प्रक्रिया भी जारी रहने के आसार हैं। विकसित देश जलवायु परिवर्तन पर गठित अंतर-सरकारी पैनल (आईपीसीसी) की रिपोर्ट स्वीकार करने को राजी नहीं हुए।

इस रिपोर्ट में कहा गया है कि वैश्विक ताप वृद्धि को 1.5 डिग्री सेल्सियस के भीतर रखने का पेरिस समझौते का लक्ष्य हासिल कर पाने में नाकाम रहने के प्रलयकारी सामाजिक-आर्थिक दुष्परिणाम हो सकते हैं। पेरिस समझौते में जलवायु संरक्षण संबंधी संकल्प पूरा करने के लिए कोई बाध्यता नहीं होने से यह अनिश्चित है कि कैटोविस सम्मेलन के निष्कर्ष वैश्विक तापन से होने वाले नुकसान की भरपाई कर पाने के लिए काफी होगा या नहीं। आईपीसीसी की रिपोर्ट में कहा गया है कि धरती का औसत तापमान पहले ही पूर्व-औद्योगिक काल से एक डिग्री सेल्सियस बढ़ चुका है और वर्ष 2030-2052 के दौरान यह कभी भी 1.5 डिग्री सेल्सियस की सीमा पार कर सकता है। ऐसा होने पर भारी बारिश की तीव्रता एवं आवृत्ति बढ़ने के साथ ही भीषण अकाल की घटनाएं भी बढ़ेंगी। इसके अलावा मच्छरों से पैदा होने वाली मलेरिया एवं डेंगू जैसी बीमारियों का प्रकोप बढ़ेगा जो मानव उत्पादकता को कम करेगा और गरीबी बढ़ेगी। इससे भी बुरी बात यह है कि वैश्विक तापन का भार गरीब पर गैर-आनुपातिक रूप से पड़ेगा।

वैश्विक तापन के लिए सबसे कम जिम्मेदार होने के बावजूद गरीब इसके दुष्परिणामों से निपट पाने में अक्षम हैं। इसके बावजूद कुछ बेहतर न होने से पेरिस समझौता ही मानवजाति के लिए उम्मीद की इकलौती किरण है। सम्मेलन में पेरिस समझौते को ठीक से लागू करने के नियम बनाया जाना अच्छा कदम है। सहमति वाली योजनाओं में कुछ तकनीकी दिशानिर्देशों का जिक्र है। इनसे वातावरण में उत्सर्जित होने वाले ग्रीनहाउस गैस की गणना हो सकेगी। इससे जलवायु लक्ष्यों को हासिल करने की देशों की प्रगति की पारदर्शी निगरानी हो सकेगी। इससे देशों के बीच यह भरोसा कायम करने में मदद मिल सकती है कि सभी देश वैश्विक तापन से निपटने के लिए अपनी भूमिका निभा रहे हैं। हालांकि ज्यादातर देशों ने उत्सर्जन में कमी के प्रयास तेज करने के लिए कार्बन ट्रेडिंग जैसी प्रणाली का सुझाव दिया लेकिन इस पर सहमति नहीं बन सकी। इस मसले का जल्द समाधान होने पर ही स्वच्छ तकनीकों में निजी निवेश को प्रोत्साहन मिलेगा। 15 साल की ग्रेटा थुनबर्ग ने जलवायु संकट के प्रति कमजोर वैश्विक प्रतिक्रिया को दमदार तरीके से आवाज दी। ग्रेटा ने एक सशक्त संदेश दिया लेकिन दुर्भाग्य से कुछ विकसित देशों के नेताओं ने उसकी अनदेखी की।

Date: 16-12-18

## श्रीलंका के सबक

**डॉ. दिलीप चौबे**

श्रीलंका के विवादास्पद प्रधानमंत्री महिंदा राजपक्षे ने अपने पद से इस्तीफा देकर देश में करीब दो महीने से जारी राजनीतिक-संवैधानिक संकट को समाधान की दिशा में मोड़ दिया है। राष्ट्रपति मैत्रीपाला सिरीसेना ने 225 सदस्यों वाली संसद में अपना बहुमत रखने वाले प्रधानमंत्री रानिल विक्रमसिंघे को जिस तरह असंवैधानिक तरीके से बर्खास्त करके पूर्व राष्ट्रपति राजपक्षे को नियुक्त किया, उससे दो चीजें स्थापित हुई हैं। राजनीतिक ताकतें अपनी महत्त्वाकांक्षी प्रतिद्वंद्विता के चलते लोकतंत्र को किस तरह संकट में डाल देती हैं, श्रीलंका इसका ताजा सर्वोत्तम उदाहरण है। लेकिन प्रसन्नता की बात है कि यहां भी सर्वोच्च न्यायालय लोकतंत्र के बचाव में उतरा। उसने राष्ट्रपति सिरीसेना के कदम को अलोकतांत्रिक बताते हुए उनके आदेश को निरस्त कर दिया। सिरीसेना युनाइटेड नेशनल पार्टी (यूएनपी) के नेता विक्रमसिंघे के साथ मिलकर दो हजार पंद्रह से गठबंधन सरकार चला रहे थे। यह गठबंधन पिछले 26 अक्टूबर को टूट गया, जब सिरीसेना ने तानाशाहीपूर्ण तरीके से प्रधानमंत्री विक्रमसिंघे को बर्खास्त कर दिया था।

राष्ट्रपति सिरीसेना और बर्खास्त प्रधानमंत्री विक्रमसिंघे के बीच किसी तरह के वैचारिक मतभेद के बजाय अहं का टकराव है, लेकिन सिरीसेना वर्तमान संकट को विदेशी विचारों और स्थानीय मूल्यों के बीच संघर्ष के रूप में प्रचारित कर रहे हैं। जाहिर है कि उनका इशारा विक्रमसिंघे की ओर है, जिन्हें विदेशी शक्तियों का पक्षकार बताया जा रहा है। आम तौर पर हर तानाशाह अपने को अंध राष्ट्रवादी, स्वदेशी और अपने राजनीतिक प्रतिद्वंद्वियों को विदेशी बताता है। जर्मनी में नाजी पार्टी का नेता हिटलर भी अपने को प्रखर राष्ट्रवादी बताकर सत्ता में आया था। इंडोनेशिया में सुकर्णो, पाकिस्तान में याहिया खां और नेपाल में राजा महेन्द्र भी अपने को राष्ट्रवादी और विरोधियों को विदेशी शक्तियों के इशारे पर नाचने वाला बताया करते थे। लेकिन यह वह दौर था, जब एशिया और अफ्रीका के देशों में लोकतंत्र अपनी जड़ें जमा रहा था, और जनता अपने लोकतांत्रिक अधिकारों को लेकर बहुत सजग नहीं थी। अपने को स्थानीय मूल्यों का आदर करने वाला बताकर राष्ट्रपति सिरीसेना का यह कहना कि यूएनपी नेता विक्रमसिंघे को संसद के सभी 225 सदस्यों का समर्थन हासिल होने के बावजूद प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त नहीं करूंगा, उसी तानाशाही मानसिकता का परिचायक है, जो देश के संविधान से अपने को ऊपर मानती है।

हालांकि पिछले बुधवार को 225 सदस्यीय संसद में अपदस्थ प्रधानमंत्री विक्रमसिंघे ने 117 सदस्यों का समर्थन हासिल कर लिया, जो बहुमत के लिए आवश्यक समर्थक संख्या से चार ज्यादा है। संसद और सुप्रीम कोर्ट दोनों जगहों से मिली हार से राष्ट्रपति सिरीसेना की विश्वसनीयता को धक्का लगा है। वह विक्रमसिंघे को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त नहीं करते हैं, तो उनके खिलाफ संसद में महाभियोग प्रस्ताव भी लाया जा सकता है। सिरीसेना द्वारा संसद भंग किए जाने की कार्रवाई के खिलाफ सुप्रीम कोर्ट में अनेक सांसदों ने याचिकाएं डाली थीं, जो राष्ट्रपति के खिलाफ गुस्से का इजहार करती हैं। इसीलिए सिरीसेना को देश और लोकतंत्र के हित में विक्रमसिंघे को प्रधानमंत्री नियुक्त न करने की जिद छोड़नी देना चाहिए। जब तक विक्रमसिंघे दोबारा प्रधानमंत्री नियुक्त नहीं किए जाते देश में राजनीतिक और संवैधानिक संकट बना रहेगा। अपने देश का इतिहास हो या विश्व इतिहास वर्तमान शासकों को अपने पूर्ववर्ती शासकों द्वारा की गई गलतियों से सबक लेने का महत्वपूर्ण लिखित दस्तावेज होता है। श्रीलंका की इस घटना से भारत को सबक लेना चाहिए।

वैसे, आपातकाल के 19 महीने के भारतीय इतिहास में अनेक ऐसे प्रसंग और उदाहरण हैं, जो बताते हैं कि सत्ताकांक्षी राजनीतिक ताकतें जब एक दूसरे के साथ शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने लगती हैं और ऐसा करने के लिए अलोकतांत्रिक रवैया अपनाने लगती हैं, तो लोकतंत्र का गला घुटता है। याद दिलाने की जरूरत नहीं है कि आपातकाल में पूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी अपने पद पर बने रहने के लिए किस तरह निरंकुश हो गई थीं। आज कांग्रेस और भाजपा एक दूसरे के साथ उसी तरह शत्रुतापूर्ण व्यवहार कर रहे हैं। भाषाई और व्यावहारिक, दोनों मर्यादाओं का उल्लंघन किया जा रहा है। सरकार को विपक्ष का सम्मान करना चाहिए और विपक्ष को भी सरकार की अंधी आलोचना करने से बचना चाहिए।

*Date: 15-12-18*

## न्यायिक सक्रियता

### संपादकीय

मेघालय उच्च न्यायालय के न्यायाधीश सुदीप रंजन सेन ने निवास प्रमाण पत्र से संबंधित एक मामले की सुनवाई करते हुए सबको विस्मित करने वाली टिप्पणी करते हुए कहा है कि आजादी के समय जब देश का विभाजन हुआ, तब पाकिस्तान ने अपने को इस्लामिक राज्य घोषित किया था। भारत को भी उसी समय हिन्दू राष्ट्र घोषित कर देना चाहिए था। न्यायाधीश सेन को कानून और संविधान की सीमाओं में रहकर उस व्यक्ति के निवास प्रमाण पत्र से संबंधित मामले में अपना फैसला देना था, जिसे राज्य सरकार ने खारिज कर दिया था। लेकिन न्यायाधीश महोदय ने ऐसी टिप्पणी की, जिसका इस मामले से कोई लेनादेना नहीं था। न्यायाधीशों को ऐसे फैसले और टिप्पणियों से बचना चाहिए जिनकी प्रासंगिकता और न्यायिक सीमा संदिग्ध हो। भारतीय संविधान धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक गणराज्य की स्थापना करता है, और यह संविधान की आत्मा या मूल ढांचा है। मूल ढांचे में बदलाव या संशोधन करने के मामले में 1973 में सुप्रीम कोर्ट ने अपना महत्वपूर्ण निर्णय दिया था, जो आज भी तमाम अंतर्विरोधों के बावजूद कायम है। यह निर्णय केशवानंद बनाम केरल राज्य के नाम से जाना जाता है।

इस मामले में सुप्रीम कोर्ट के 13 न्यायाधीशों की पीठ ने अपने संवैधानिक रुख में संशोधन करते हुए कहा था कि संविधान संशोधन के अधिकार पर एकमात्र प्रतिबंध यह है कि इसके जरिए संविधान के मूल ढांचे को क्षति नहीं पहुंचनी चाहिए। जाहिर है कि देश के कानून के दायरे में रहकर ही न्यायाधीशों को अपना फैसला देना चाहिए। लेकिन विडंबना है कि कई बार अदालतें अपनी सीमाओं और शक्तियों का विस्तार करते हुए फैसला देती हैं, जिसे “शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धांत” का उल्लंघन माना जाता है। पश्चिमी विचारक मांटेस्क्यू इस सिद्धांत के प्रवर्तक रहे हैं, जिन्होंने लोकतंत्र की सफलता के लिए इसके तीनों अंगों-न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका के बीच पूरी तरह शक्तियों का बंटवारा करने का विचार प्रस्तुत किया था। हालांकि नागरिकों को यह बहस करने का संवैधानिक अधिकार है कि भारत को किस तरह की शासन पणाली चाहिए। वसंत साठे ने संसदीय पणाली बनाम अध्यक्षतात्मक पणाली पर बहस की शुरुआत की थी। इसी तरह भारत के लिए हिन्दू राष्ट्र, धर्मनिरपेक्ष गणराज्य, सर्वहारा का अधिनायकत्व या मार्क्सवादी राज्य में से कौन-सी शासन पणाली बेहतर होगी, इस पर नागरिकों को विचार-विमर्श करने की आजादी है, लेकिन न्यायाधीशों को चाहिए कि वे न्याय के ढांचे के तहत ही फैसला दें।





*Date: 15-12-18*

## Negative signals

***Falling food prices will intensify rural distress; the solution is meaningful agricultural reform***

### Editorial

The days when inflation could topple governments appear to be gone. It is now time for the government to worry about falling prices, especially of food. Retail inflation dropped to a 17-month low of 2.33% in November, as compared to 3.31% in October, primarily due to the fall in the prices of various essential food items. Food prices fell by a huge 6.96 percentage points compared to a year ago and, at minus 2.61%, are now in deflationary territory for the second successive month.

The fall in inflation is obviously good news for consumers, particularly those in urban India who are happy to pay less for their purchases; also for the Reserve Bank of India, which will now have more room for manoeuvre in the matter of interest rates. But it is bad news for the producers of basic food items who are located in the distress-affected rural parts of the country, with falling farm incomes also impacting landless labour and rural demand. At the heart of this problem is the unpredictability of farm prices, which are known to exhibit extreme levels of volatility owing to various supply-side issues that plague the agricultural sector. Though farmer producer companies have stepped in with help and guidance to farmers to use hedging tools to minimise price risks, they are too few and far between to make a difference. And even when their produce finally commanded impressive prices in the retail market, the cartelised agricultural marketing system has made sure that farmers received little to nothing.

Ahead of the general election next year, State governments across the country are likely to resort to short-term relief measures such as farm loan waivers to temporarily relieve farmers of their deep distress. Further, with the issue of rural distress now expected to significantly affect the general election verdict, the Bharatiya Janata Party and the Congress are already engaged in a competitive battle to offer the highest extent of loan waiver to farmers. There will also be pressure to announce higher minimum support prices for various agricultural goods. It is another matter that no government has ever had the wherewithal to deliver on such lofty promises. In fact, the poor implementation of MSPs is one of the reasons for farmers taking to the streets in protest. The Centre may prod the new RBI Governor to adopt a more dovish monetary policy stance in the run-up to the election citing falling inflation figures. But none of these measures will help farmers, who have increasingly taken the protest route of late to make their demands heard, in any meaningful manner in the long run. Real agricultural reform is crucial to enable farmers to freely make their own business decisions without the grabbing hand of the government.

*Date: 15-12-18*

## Farming in a warming world

### *Efforts to make agriculture climate-resilient must be scaled up and consolidated*

**Naveen P. Singh and Bhawna Anand are with the ICAR-National Institute of Agricultural Economics & Policy Research, New Delhi. The views expressed are personal**

The pervasiveness of climatic aberrations and the associated socio-economic vulnerability are now widely recognised and experienced across the globe. The Sixth Assessment Report by the Intergovernmental Panel on Climate Change (IPCC) on “Global Warming at 1.5°C” distinctly propagates the need to strengthen and enhance existing coping capacity and to remain committed to the objectives of the Paris Agreement.

The report establishes that the world has become 1°C warmer because of human activities, causing greater frequency of extremes and obstruction to the normal functioning of ecosystems. Climate-induced risks are projected to be higher for global warming of 1.5°C than at present, but lower than at 2°C (a catastrophic situation). However, the magnitude of such projections depends on in-situ attributes and the level of developments. Moreover, for such a change in global warming, indigenous populations and local communities dependent on agricultural or coastal livelihoods are very vulnerable to the climate impacts.

India, with its diverse agro-climatic settings, is one of the most vulnerable countries. Its agriculture ecosystem, distinguished by high monsoon dependence, and with 85% small and marginal landholdings, is highly sensitive to weather abnormalities. There has been less than normal rainfall during the last four years, with 2014 and 2015 declared as drought years. Even the recent monsoon season (June-September) ended with a rainfall deficit of 9%, which was just short of drought conditions. Research is also confirming an escalation in heat waves, in turn affecting crops, aquatic systems and livestock. The Economic Survey 2017-18 has estimated farm income losses between 15% and 18% on average, which could rise to 20%-25% for unirrigated areas without any policy interventions. These projections underline the need for strategic change in dealing with climate change in agriculture.

### **Steps needed**

There is a need to foster the process of climate adaptation in agriculture, which involves reshaping responses across both the micro- and macro-level decision-making culture. At the micro-level, traditional wisdom, religious epics and various age-old notions about weather variations still guide farmers' responses, which could be less effective. Corroborating these with climate assessments and effective extension and promoting climate resilient technologies will enhance their pragmatism. Climate exposure can be reduced through agronomic management practices such as inter and multiple cropping and crop-rotation; shift to non-farm activities; insurance covers; up-scaling techniques such as solar pumps, drip irrigation and sprinklers. Several studies indicate increasing perceptions of the magnitude of climate change and the need for farmers to adapt, but the process remains slow.

For instance, the NSS 70th round indicates that a very small segment of agricultural households utilised crop insurance due to a lack of sufficient awareness and knowledge. Hence there is an urgent need to educate farmers, reorient Krishi Vigyan Kendras and other grass-root organisations with specific and

more funds about climate change and risk-coping measures. Climate adaptation actions in agriculture are closely intertwined with rural developmental interventions, calling for a holistic new paradigm. At the macro-level, climate adaptations are to be mainstreamed in the current developmental framework (which is still at a nascent stage, as acknowledged in the Economic Survey 2017-18). Though programmes of the government document the likely consequences of climate change, they lack systematic adaptation planning and resource conservation practices. Mainstreaming adaptation into the policy apparatus has the potential to improve the resilience of several development outcomes. The approach demands coherence across multiple policy scales as required for developing possible synergy between micro-macro levels and addressing several cross-cutting issues. Moreover, this enables identification of several barriers that prevent up-scaling efforts and adaptation by farmers.

### **Key interventions**

Expansion of extension facilities, improving irrigation efficiency, promotion of satellite-enabled agriculture risk management, creating micro-level agro-advisories, providing customised real time data, and capacity building of stakeholders are some initiatives towards building greater resilience in agriculture. Interventions such as the Pradhan Mantri Krishi Sinchayee Yojana, Pradhan Mantri Fasal Bima Yojana, Soil Health Card, Paramparagat Krishi Vikas Yojana, National Agriculture Market, or e-NAM, and other rural development programmes are positive interventions that can address the vulnerability of farmers and rural households.

There are also exclusive climate and adaptation schemes being operationalised, such as the National Innovations on Climate Resilient Agriculture (NICRA), the National Mission for Sustainable Agriculture (NMSA), the National Adaptation Fund, and the State Action Plan on Climate Change (SAPCC). It is desirable to have a cultural change wherein some of the components under these schemes can be converged with major rural developmental programmes, which will further enhance their effectiveness at the grass-root level. A study by the Centre for Science and Environment provides insights into the development of SAPCCs across selected States.

The SAPCC is an important platform for adaptation planning but it needs to evolve further in terms of climate-oriented regional analysis to capture micro-level sensitivity and constraints. Moreover, convergence of climate actions with ongoing efforts and several Central schemes with similar mandates is a must. Greater expertise and consultations are required for a systematic prioritisation of actions and fiscal prudence for building climate resilient agriculture.

---